काव्य का लक्षण——साहित्य शब्द के विवेचन के समय हम पीछे काव्यकला पर हल्का-सा प्रकाश डाल आए हैं। किन्तु काव्य का निश्चित लक्षण अथवा स्वरूप बताना सभी अलंकारिकों ने आवश्यक समझा है। और अपनी-अपनी दृष्टि से उसका निरूपण भी किया है। यदि साहित्य शब्द की तरह यहाँ हम काव्य शब्द की भी व्युत्पत्ति करना चाहें तो वह इस प्रकार होगी —'कौति कवते कवयति वा (कु+इ) कविः तस्य कर्म काव्यम्' अर्थात् जो व्यक्ति शब्द करे अथवा मुख से शब्दों को निकाले वह कवि है और उसका कर्म काव्य है। किन्तु शब्द कभी अकेले नहीं रहा करते हैं। उनके साथ कालिदास की **वागर्थाविव सम्पृक्तौ** इस उक्ति के अनुसार अर्थों का सम्पर्क —अविनाभाव सम्बन्ध——स्वतः सदा बना ही रहता है। इस तरह अर्थानुगत शब्दों का समुदाय काव्य शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ निकलता है। इसीलिए पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियों—भामह, मम्मट, कुन्तक, रुद्रट आदि—ने काव्य का लक्षण साधारणतः 'शब्दार्थौ काव्यम्' अथवा **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्** किया है। किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या सभी शब्दार्थ **काव्य होते हैं ?** इसका उत्तर हमारे पास नकारात्मक होगा क्योंकि सभी शब्दार्थ काव्य नहीं बन सकते। उदाहरण के लिए, सुनते हैं कि राजा भोज की सभा में एक बार कोई दीन ब्राह्मण भोजन की भिक्षा माँगता हुआ निवेदन कर बैठा:—

भोजनं देहि मे राजन्! घृतसूपसमन्वितम्। इन शब्दार्थों का राजा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सका। यह तो कालिदास ही थे, जिन्होंने ब्राह्मण पर दया खाकर झट ब्राह्मण की तरफ से स्वयं छन्द-पूर्ति कर दी :—

माहिषं च शरच्चन्द्र-चन्द्रिका-धवलं दधि ॥

सुनते ही राजा प्रभावित हो गए और उन्होंने ब्राह्मण की कामना पूरी कर दी। इसी प्रकार का प्रश्न आचार्य भामह ने भी उठाया और स्वयं ही उसका उत्तर भी दे दिया :—

'गतोस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादिकं काव्यं वार्तामितां प्रचक्षते ॥

'सूर्य छिप गया; चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षीगण घोंसलों की ओर प्रस्थान कर रहे हैं। इत्यादि शब्दार्थ काव्य हैं क्या ? नहीं, यह तो साधारण जन भाषा की बात चीत है। एक उदाहरण कवि भाषा का भी लीजिए। मुगल सम्राट शाहजहाँ के पास अन्तरङ्ग सभा में पण्डितराज जगन्नाथ बैठे थे और विद्यासम्बन्धी चर्चा चल रही थी। इस बीच पण्डितराज को प्यास लग गई और उन्होंने पानी मंगवाया। शाही फरमान पर एक नवयुवा लड़की सिर पर कलश लिये मटकती छमछमाती आ पहुँची और जल पिलाकर चल दी। पण्डित जी की आँखें उस पर उलझ गईं। वे उसे पानी के बदले हृदय दे बैठे। बादशाह के आगे वे हृदयोद्गार नहीं रोक सके और बोल ही पड़े:—

इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा
कुसुम्भारुणं चारु देहं वसाना।
समस्तस्य लोकस्य चेतः प्रवृत्तिं
गृहीत्वा घटे न्यस्य यातीव भाति ॥

सुनते ही सम्राट का हृदय उछल पड़ा और वे गद्गद हो उठे। शब्दार्थ ही पण्डितराज के बड़े चमत्कार-विशिष्ट एवं मर्मस्पर्शी थे—बोल उठे—'पण्डितराज' माँगो क्या माँगते हो ? हम तुम्हारी कविता पर 'मुग्ध' हैं। किन्तु पण्डित जी भोजराज दरबार वाले ब्राह्मण की तरह भोजन-भिक्षु तो थे नहीं, वे मन की मुराद माँग बैठे:—

न याचे गजालिं न वा वाजिराजं
न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।

इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा
लवङ्गी कुरङ्गी मदङ्गीकरोतु ॥

सम्राट ने झट लवङ्गी बुलाई और उसको पण्डितराज के हाथ पकड़ा दिया। यह है कविभाषा के शब्दार्थों का जादू, जो सिर पर चढ़कर बोलता है। ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि काव्यत्व साधारण जन भाषा के बोलचाल के शब्दार्थों में नहीं, बल्कि कवि भाषा के शब्दार्थों में रहता है। काव्यत्व-प्रयोजक शब्दार्थ विशिष्ट ही होते हैं साधारण नहीं। वह वैशिष्टय शब्दार्थों में क्या है —इस सम्बन्ध में आलंकारिकों में विभिन्न दृष्टिकोणों को दर्पणकार ने दिया है। और साथ ही उनका खण्डन भी कर दिया है सबसे पहले वे मम्मटाचार्य को लेते हैं, जिन्होंने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है:—**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि**। अर्थात् दोषाभाव, गुण और सर्वत्र अलंकार विशिष्ट शब्दार्थ काव्य होते हैं। किन्तु दर्पणकार का कहना है कि दोषाभाव काव्य का निर्मापक तत्त्व नहीं हो सकता क्योंकि दोष होने पर भी शब्दार्थों में काव्यत्व यथावत् बना ही रहता है, भले ही उपादेयता उसकी कम हो जाय। गुण शब्दार्थों में रह ही नहीं सकते क्योंकि वे रस धर्म हैं। अलंकार भी अनिवार्य तत्त्व नहीं, आगन्तुक धर्म है। इसके बाद दर्पणकार ने कुन्तक के **वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्** इस लक्षण पर प्रहार करते हुए कहा कि वक्रोक्ति तो एक अलङ्कारमात्र है। वह भला काव्यात्मा कैसे बन सकती है? इसी तरह उन्होंने ध्वनिप्रतिष्ठापनाचार्य आनन्दवर्धन के **काव्यस्यात्मा ध्वनिः** इस लक्षण पर भी आपत्ति उठाई है कि ध्वनिविशिष्ट शब्दार्थ काव्य नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है। वह काव्य सीमा से बाहर वस्तु और अलंकार को भी अपने भीतर समेटे रहती है, काव्य तक सीमित नहीं है। अन्त में रीति (पदरचना) को काव्यात्मा मानने वाले वामनाचार्य को भी दर्पणकार ने नहीं छोड़ा यह कहते हुए कि रीति जो एक तरह का वचोविन्यास मात्र है, शरीर में अवयव -संस्थान का रूप है। वह काव्य नहीं बन सकती है। दर्पणकार के बहुत समय बाद पण्डितराज जगन्नाथ ने **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्** कहा है। यदि पण्डितराज पहले हुए होते, तो दर्पणकार शब्द को काव्य मानने वाले इन्हें भी इसी तरह फटकार देते। किन्तु हमें दर्पणकार की ये सभी बातें अच्छी नहीं लगतीं। यह उक्त काव्यालोचक मान्य प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्त की ऊपरी सतह तक ही रह गए, गहरे में नहीं बैठे। दर्पणकार ने **'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्'** यह जो अपना शुद्ध काव्य -लक्षण होने का दावा किया है, इस पर भी हम इन्हें पूछ सकते हैं कि वाक्य आखिरकार अर्थानुगत शब्द -समुदाय नहीं है तो क्या है? (**वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः**) शब्द को ही विशेष्य मानकर रस का उसमें इन्होंने वैशिष्टय माना है। मम्मट ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही **सकलप्रयोजनमौलिभूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्** कहकर रस को काव्य में मूर्धन्य स्थान दिया है। अन्यत्र स्थान-स्थान में भी रस का वैशिष्टय स्वीकार कर रखा है। लक्षण में भी उनका **सगुणौ** शब्द परम्परा-सम्बन्ध से रस को ही बता रहा है। अन्यथा दर्पणकार को ही हम पूछेंगे कि उनके शब्दरूप वाक्य में भी रस की सत्ता कैसे हो सकती है। शब्द आकाश का गुण है और रस—आनन्दमय रागात्मक अनुभूति—आत्मा का गुण है। वह आत्मा में ही रहेगा, शब्द में नहीं। गुण गुण में कहाँ रहता है? यदि परम्परा सम्बन्ध की कल्पना करके शब्द द्वारा आत्मा में अनुभूति मानते हो तो हम दर्पणकार को फिर पूछेंगे कि परम्परा सम्बन्ध से गुण द्वारा रस-ग्रहण करने में क्यों उन्हें साँप सूंघ जाता है?

उपरोक्त बात आनन्दवर्धनाचार्य के सम्बन्ध में भी समझिए। उन्होंने भी रसध्वनि को सर्वत्र प्रमुखता दे रखी है। इस ध्वनि से अतिरिक्त वस्तु और अलंकार ध्वनि तक भी काव्यक्षेत्र का विस्तार मानने में, हम समझते हैं, ध्वनिकार ने कोई गलती नहीं की है। ध्वनि प्रकरण में स्वयं विश्वनाथ ने **वस्त्वलंकाररूपत्वात् शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा** कह कर रस-ध्वनि के अतिरिक्त वस्तु और अलंकार ध्वनि में काव्यत्व मान ही रखा है। इसी तरह गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्यों में से तुल्य-प्राधान्य, अस्फुट-व्यङ्ग्य, अगूढ-व्यङ्ग्य आदि भेदों के उदाहरणों में दिये हुए **ब्राह्मणातिक्रम-त्यागो, सन्धौ सर्वस्वहरणम्** आदि में हम रसध्वनि का स्पर्श तक भी नहीं पाते, लेकिन दर्पणकार ने काव्य ही माना है। **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्** इस काव्य लक्षण में पण्डितराज को रमणीयता से अभिप्रेत केवल रस ही नहीं, बल्कि अर्थ में रमणीयता लाने वाली रस से भिन्न और भी चीजें हैं। वर्णन में चमत्कार होना चाहिए। तारों के रूप में सितारे-जड़ी नीली साड़ी पहने रजनी अथवा अचेत सोये पड़े जगत को धवल परिधान से आच्छादित किए

चन्द्रज्योत्स्ना अथवा मधुर कल्लोलों से इठलाती, बलखाती, कलकल निनादिनी नदी आदि प्रकृति-तत्त्वों के आलम्बनात्मक, स्वतन्त्र आकर्षक सौन्दर्य-चित्र किस सहृदय के हृदय को आनन्दोद्वेलित नहीं करते ? इन सौन्दर्यानुभूतियों को हम काव्य-क्षेत्र से बाहर नहीं निकाल सकते हैं। इस तरह नीरस होते हुए भी चमत्कारी, वस्तु एवं अलंकार के व्यञ्जक शब्दार्थों में ध्वनिकार ही नहीं, बल्कि अन्य आलंकारिकों ने भी निश्चितरूप से काव्यत्व मान रखा है।

रीति और वक्रोक्ति को काव्यात्मा मानने वाले वामनाचार्य और कुन्तक ने भी काव्य में रस का महत्त्व एवं अनिवार्यता स्वीकार न की हो, यह बात नहीं। रीति का अर्थ होता है वचोविन्यास का विशिष्ट प्रकार--ऐसा प्रकार जिसमें शब्दों के भीतर रसानुकूल वर्णों का चयन हुआ हो। यदि रसानुकूल शब्द अथवा वर्ण-चयन न हो तो रस की अभिव्यक्ति कदापि हो ही नहीं सकती। सारी अनुभूति उलट जाएगी। इसी आधार पर रीति-सिद्धान्त की स्थापना हुई है और वामन ने उसे काव्य में मुख्य स्थान दिया। वक्रोक्ति भी कोई अलंकार मात्र नहीं जैसे दर्पणकार मान बैठे हैं। यह भी एक सिद्धान्त है, जिसमें शब्दार्थ साधारण जनभाषा के न होकर 'वक्र' अर्थात् वैचित्र्यपूर्ण रहते हैं। यह वैचित्र्य रस ही नहीं, बल्कि शब्द, अर्थ और वर्ण आदि गत सभी प्रकार का सौन्दर्य अपने में अन्तर्मुक्त किये रहता है। भामह ने भी **लोकातिक्रान्त-गोचर** उक्ति को काव्य का मूल तत्त्व कहा है। इस तरह काव्य क्षेत्र विशाल है।

सच पूछो तो काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में दर्पणकार की तरह खण्डन-मण्डन हमें नहीं रुचता। अन्य कलाओं की तरह काव्य-कला भी इतनी विविध-रूप और सूक्ष्म है कि उसे सर्व-सम्मत निश्चित परिधि के भीतर बाँध देना बड़ा कठिन है। अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार जिस-जिस परिप्रेक्ष्य से जिसने उसे निहारा अथवा उसका स्वाद लिया उसने उसका वही रूप मान लिया, किन्तु वह गलती में नहीं रहा, क्योंकि वह रूप कला का एकदेश अवश्य है। यहाँ हम गजान्ध-न्याय लगा सकते हैं। गज कैसा होता है—यह जानने हेतु पाँच-छः अन्धे चिड़ियाघर चल पड़े। उनमें किसी ने गज की पूँछ, किसी ने सूंड, किसी ने पैर, किसी ने कान और किसी ने शरीर छुआ। घर लौटकर अपने साथियों को गज का परिचय देने लगे तो पूंछ पकड़ने वाला बोला कि वह रस्सी जैसा है, सूंड़ पकड़ने वाला बोला नहीं अजगर जैसा है, पैर पकडने वाला बोला वह खम्भा-जैसा है, कान पकड़ने वाला बोला, वह छाज-जैसा है और शरीर पकड़ने काला बोला वह दीवार-सा है। यही हाल काव्य लक्षणकारों का भी है। काव्य के सम्बन्ध में हमारे यहाँ ही विभिन्न दृष्टिकोण हों, सो बात नहीं। पाश्चात्य विद्वानों में भी मतभेद पाया जाता है। कालरिज जैसे कवि जहाँ शब्द को प्राधान्य देते हैं वहाँ शैले, हैजलिट् आदि भावों की उत्कटता को काव्य का मूल तत्त्व मानते हैं। कोई जातितत्त्व के समर्थक हैं। इस तरह हम देखते हैं कि कोई काव्य के शब्दार्थों—शरीर—अथवा कला-पक्ष पर बल देता है तो कोई उसके हृदय अर्थात् भाव-पक्ष को अपनाता है। किन्तु सभी दृष्टिकोणों से देखा जाय तो कुल मिलाकर अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि काव्य लेखबद्ध वह रचना है, जिसमें शब्द, अर्थ, और भाव ऐसे बिशिष्ट अर्थात् चमत्कार-पूर्ण हों जो हृत्पिण्ड को छूते हुए हमारे भीतर प्रस्तुत वस्तु की मार्मिक भावना को उभार दें और हमें अलौकिक आनन्द में मग्न कर दें। केवल भावपक्ष की बात लक्ष्य करके विश्वनाथ कविराज ने काव्य की भाव-प्रधान परिभाषा यह की है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। आत्मा शरीर के बिना टिक नहीं सकती शरीर के साथ यथास्थान अवयव-संस्थान चाहिए, उसमें गुण और दोषाभाव और शोभाधायक भूषण भी चाहिएं। तब जाकर वह अपना पूर्ण रूप अपना पाएगी। इसलिए दर्पणकार ने काव्य कला को भौतिक रूप देते हुए शब्दार्थ रूपी दो तत्त्वों से उसका शरीर-निर्माण किया, रीतियाँ अवयव-संस्थान रखीं, माधुर्यादिगुण शौर्यादि-स्थानीय किये, दोष काणत्व खञ्जत्व आदि के रूप में लिए और उपमा आदि अलंकारों को कटक कुंडल आदि का रूप दिया। अन्त में रस की प्राण-प्रतिष्ठा करके देह को सात्म बना कर उसका जीवन्त रूप हमारे आगे खड़ा कर दिया है कि देखो यह है काव्यकामिनी।